सातवाँ कमलादेवी चट्टोपाध्याय
स्मृति व्याख्यान

हिन्दी क्षेत्र की शैक्षिक-सांस्कृतिक चुनौतियाँ

असग़र वजाहत

सांस्कृतिक स्रोत एवं प्रशिक्षण केन्द्र
नई दिल्ली

© सांस्कृतिक स्रोत एवं प्रशिक्षण केन्द्र, 2016

सभी अधिकार सुरक्षित। इस प्रकाशन का कोई अंश निदेशक, सांस्कृतिक स्रोत एवं प्रशिक्षण केन्द्र, नई दिल्ली की पूर्व लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में प्रकाशित नहीं किया जा सकता।

कमलादेवी चट्टोपाध्याय

एक अज़ीम शख्सियत और अपने विद्यार्थी जीवन में भारत की बेताज मलिका के रूप में विख्यात कमलादेवी चट्टोपाध्याय सौंदर्य, समझदारी, प्रतिबद्धता और साहस से परिपूर्ण दुर्लभ व्यक्तित्व की स्वामिनी थीं। बचपन से ही उनके व्यक्तित्व में सुन्दरता तथा अपनी माता, दादी मां एवं ब्रिटिश सफ्रागेट मार्ग्रेट कजिन द्वारा प्रदत्त जीवन मूल्यों का समावेश परिलक्षित होता था। सारांश में कहें तो महिलाओं की एक पीढ़ी ने जो मूल्य उनमें समाविष्ट किये, उन्होंने लगभग सात दशकों से अधिक समय तक कमलादेवी जी के जीवन का मार्गदर्शन किया। कमलादेवी चट्टोपाध्याय भारतीय महिलाओं की उस पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करती हैं, जो न केवल जेल के अन्दर-बाहर जाती स्वतंत्रता सेनानी थीं वरन् भारतीय महिलाओं को संकीर्ण सामाजिक, आर्थिक सीमाओं से मुक्त करने में भी उत्तरदायी थीं।

इस लम्बी यात्रा में कमलादेवी जी राजनैतिक नेतृत्व के गुण से भरपूर होने के बावजूद शक्ति व पद-लोलुपता से दूर रहीं। कोई भी सार्वजनिक कार्यालय उन्हें आकर्षित नहीं कर सका, बल्कि जनता को दुख-दर्द से राहत दिलाने का उनका मिशन ही उनको प्रिय था। देश के विभाजन के बाद वह महिला राहत आन्दोलन में सक्रिय रहीं। उन्होंने फरीदाबाद शरणार्थी शिविर में अपनी पूर्ण शक्ति के साथ सेवा की।

महात्मा गांधी के सान्निध्य और आर्थिक सशक्तीकरण के सृजन तथा उनकी कर्तव्यनिष्ठा ने भारतीय सहकारिता आन्दोलन को ऊँचाइयाँ प्रदान कीं। उनके अभियान, आंचलिक स्तर पर उनके कार्य और वकालत ने भारतीय हथकरघा एवं हस्तशिल्प को मान्यता प्रदान की। उन्होंने न केवल शिल्पकारों को पल्लवित किया बल्कि उन्हें एवं उनके उत्पादों को सम्मान दिलाया। इन तमाम तथा उनके अन्य कार्यों से आज की पीढ़ी की रुचि में व्यापक परिवर्तन का प्रादुर्भाव हुआ। आज देश-विदेश में बाजार-मूल्य एवं आकर्षण की दृष्टि से हस्तशिल्प क्षेत्र को मान्यता प्राप्त है। अखिल भारतीय हस्तशिल्प बोर्ड तथा अखिल भारतीय हथकरघा बोर्ड जैसी प्रमुख संस्थाओं का अस्तित्व में आना भी उनके सक्रिय समर्थन का ही परिणाम था।

कमलादेवी जी के लिये जीवन - हाथ, दिल एवं दिमाग की अन्तर्निहित तथा दृढ़प्रतिज्ञ प्रतिबद्धता थी। एक महिला होते हुए उन्होंने अपनी युवावस्था में एक रंगकर्मी के रूप में रूढ़िवादिता को चुनौती दी। कला, संगीत, नृत्य, रंगमंच व हस्तशिल्प के प्रति उनका प्रेम और जुनून था। ऐसा कोई अवसर नहीं था, जब उन्होंने दूरदराज की हथकरघा या हस्तशिल्प या फिर गुमनाम रंगमचीय शैली को संरक्षित, उन्नत एवं प्रस्तुत करने के लिये खोज न की हो।

उन्हें एक और अभियान पूर्ण करना था, वह था–हमारी वैविध्यपूर्ण, समृद्ध और जीवंत परम्पराओं को औपचारिक शिक्षा-व्यवस्था के साथ जोड़ना। उनका दृढ़ विश्वास था कि जब तक हस्तकौशल, सृजनशीलता, मस्तिष्क की तार्किक बौद्धिकता एवं स्पंदित हृदय में साम्य नहीं, तब तक एक पूर्ण मानव होना संभव नहीं। यही वह दृष्टिकोण एवं स्वीकारोक्ति थी, जिसने भारत सरकार को *सांस्कृतिक स्रोत एवं प्रशिक्षण केन्द्र* की स्थापना करने के लिये प्रेरित किया।

–कपिला वात्स्यायन

कमलादेवी चट्टोपाध्याय

व्यक्तिगत विवरण:

3 अप्रैल, 1903, मंगलुरु, कर्नाटक में जन्म
29 अक्टूबर, 1988, मुंबई, महाराष्ट्र में देहावसान

मुख्य प्रकाशन:

1. द *अवेकनिंग ऑव इंडियन वुमन,* मद्रास (चेन्नइ), एवरीमेंस प्रेस, 1939
2. *टुवार्ड्ज़ ए नेशनल थियेटर,* औंध पब. ट्रस्ट, 1945
3. *सोशियलिज्म ऐंड सोसायटी,* बांबे (मुंबई): चेतना, 1950
4. *इंडियन हैंडिक्राफ़्ट्स,* नयी दिल्ली, एलाइड पब्लिशर्स प्रा. लि., 1963
5. *कार्पेट्स एंड फ्लोर कवरिंग्स ऑव इंडिया,* बांबे (मुंबई) तारापोरवाला, 1969
6. द *ग्लोरी ऑव इंडियन हैंडिक्राफ़्ट्स,* नयी दिल्ली, इंडिया बुक कम्पनी, 1976
7. *इंडियन कार्पेट्स एंड फ्लोर कवरिंग्स,* नयी दिल्ली, ऑल इंडिया *हैंडिक्राफ़्ट्स* बोर्ड, 1974
8. *हैंडिक्राफ़्ट्स ऑव इंडिया,* नयी दिल्ली, इंडियन काउन्सिल फॉर कल्चरल रिलेशंस, 1975
9. *ट्राइबलिज़्म इन इंडिया,* लेइडन: ब्रिल, 1978
10. *इंडियन एम्ब्रॉयडरी,* नयी दिल्ली, विले इस्टर्न, 1977
11. द *ग्लोरी ऑव इंडियन हैंडिक्राफ़्ट्स,* नयी दिल्ली, इंडियन बुक कम्पनी, 1978
12. *इंडियन विमंस बैटल फॉर फ्रीडम,* नयी दिल्ली, अभिनव पब्लिकेशंस, 1983
13. *इनर रिसेसेज़, आउटर स्पेसेज़* : **मेमॉयर्स**, नयी दिल्ली, नवरंग, 1986

प्रमुख पुरस्कार एवं मान्यताएँ :

1. 1955 में पद्मभूषण, भारत सरकार द्वारा
2. 1966 में रेमन मैग्सेसे अवार्ड फॉर कम्युनिटी लीडरशिप
3. 1974 में 'रत्न सदस्य', द लाइफटाइम अचीवमेंट अवार्ड, 'संगीत नाटक अकादमी' द्वारा
4. 1977 में यूनेस्को द्वारा प्रमोशन ऑव हैंडिक्राफ़्ट्स पुरस्कार
5. 1987 में पद्मविभूषण, भारत सरकार द्वारा

असग़र वजाहत

हिंदी के विशिष्ट कथाकार असग़र वजाहत का जन्म उत्तर प्रदेश के फतेहपुर में 5 जुलाई, 1946 को हुआ। उन्हें जून, 2006 में कथा (यू के) सम्मान हाउस ऑव् लॉर्ड्स, लंदन में दिया गया। इसके अलावा वे अन्य सम्मानों, जैसे- कथाक्रम सम्मान तथा शलाका सम्मान इत्यादि से भी अलंकृत हैं। उनकी बीस से अधिक पुस्तकें प्रकाशित हैं, जिनमें कहानी, उपन्यास, नाटक, नुक्कड़ नाटक, यात्रा-विवरण, आलोचना आदि विधाएँ शामिल हैं। उनकी कहानियों का अनुवाद व प्रकाशन अन्य भारतीय भाषाओं में हो चुका है। अनेक संचयनों में उनकी रचनाओं के अंग्रेज़ी अनुवाद शामिल किए गए हैं। उनके नाटकों का मंचन समूचे भारत के साथ-साथ अन्य देशों में भी हुआ है। उनके नाटकों में से एक 'जिस लाहौर नहीं देख्या....' का मंचन कराची, लाहौर, वाशिंग्टन, दुबई, सिडनी में हो चुका है। जाने-माने फिल्मकार राजकुमार संतोषी इस नाटक पर फ़ीचर फिल्म बना रहे हैं।

हिंदी के यशस्वी रचनाकार होने के अलावा डॉ. वजाहत टी.वी. कार्यक्रमों के लेखन व निर्देशन में भी सक्रिय हैं। 1984 में उर्दू ग़ज़ल के विकास व प्रवृत्तियों पर बीस मिनट के वृत्तचित्र का वे निर्देशन कर चुके हैं। 1990 में राष्ट्रीय स्तर पर प्रसारित 'बूँद-बूँद' टी.वी. सिरीज़ (जो 13 भागों में निर्मित की गयी थी), का निर्देशन व लेखन उन्होंने किया। विविध सांस्कृतिक विषयों पर वृत्तचित्रों का लेखन-निर्देशन भी वे कर चुके हैं।

डॉ. वजाहत दुनियाभर के गैर सरकारी संगठनों (एनजीओ) की गतिविधियों के साथ सक्रिय रूप से संलग्न रहे हैं। उन्होंने जनजातीय गाँवों तक विकास योजनाओं के सामाजिक प्रभाव का आकलन करने के उद्देश्य से एफ ए ओ परियोजना (राष्ट्रीय श्रम संस्थान, दिल्ली द्वारा आयोजित) में कार्य किया। 1991 में प्रथम *जनरल एसेम्बली ऑव् द एशियन ऐण्ड साउथ पैसिफिक ब्यूरो ऑव् ऑडिट एजुकेशन* जो टगाटे, फिलीपींस में आयोजित हुई थी, में एक प्रतिनिधि के तौर

पर भाग लिया। उन्होंने साक्षरता, स्वास्थ्य, संचार, विभिन्न संस्कृतियों के प्रति समझ जैसे मुद्दों पर राष्ट्रीय श्रम संस्थान (भारत), पी आर आई ए, पीस, वीआईएचए, चरखा तथा अन्य ग़ैर सरकारी संगठनों द्वारा आयोजित विभिन्न परियोजनाओं में भाग लिया।

एक पत्रकार के रूप में वे 1968 से लगातार प्रमुख हिन्दी समाचार-पत्रों, पत्रिकाओं आदि के लिए लेख लिखते रहे हैं। उन्होंने सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक मुद्दों पर प्रतिष्ठित हिन्दी समाचार-पत्रों और पत्रिकाओं, जैसे- *हिन्दुस्तान दैनिक, नवभारत टाइम्स, जनसत्ता, हंस, कथादेश, पहल, वर्तमान साहित्य* आदि में एक हज़ार से अधिक लेख, रिपोर्ट, न्यूज़ स्टोरी एवं साक्षात्कार लिखे हैं।

1975 में संयुक्त राज्य अमरीका की यात्रा पर आधारित उनके लेखों की शृंखला *दिनमान* में प्रकाशित हुई। उन्होंने मध्य प्रदेश सरकार के लिए कई जनजातीय क्षेत्रों का भ्रमण किया और जनजातीय लोगों की सामाजिक-आर्थिक स्थितियों पर विशेष रिपोर्ट लिखी जो 1984 में *दिनमान* में प्रकाशित हुई। उन्होंने 1996 में हंगरी के निवासियों के जीवन तथा संस्कृति पर *दैनिक भास्कर* में दस लेख लिखे। उनके ईरान तथा अजरबैजान के यात्रा-वृत्तांत 2006 में *प्रभात खबर*, रांची में प्रकाशित हुए। भारतीय ज्ञानपीठ ने इनके लेख प्रकाशित किए हैं तथा उन पर पुस्तक भी बनाई है।

आजकल प्रोफ़ेसर असग़र वजाहत 'महाबलि' नामक नाट्य उपन्यास, जो कि सम्राट अकबर एवं गोस्वामी तुलसीदास के बीच संवाद है, की रचना में व्यस्त हैं।

यात्राएँ : अमरीका, इंग्लैण्ड, फिलीपींस, हांगकांग, आस्ट्रिया, चेक गणराज्य, जर्मनी, फ्रांस, नीदरलैंड, इटली, रोमानिया, सूरीनाम, अजरबैजान तथा ईरान।

हिन्दी क्षेत्र की शैक्षिक-सांस्कृतिक चुनौतियाँ

असग़र वजाहत

हिन्दी क्षेत्र में मेरी विशेष रुचि रही है। मेरा मानना है कि हमारे देश में सार्थक परिवर्तन की प्रक्रिया का प्रारंभ इसी क्षेत्र से होगा। समय-समय पर मैंने हिन्दी क्षेत्र के विभिन्न पक्षों पर लिखा है। विशेष रूप से इस क्षेत्र की शिक्षा और संस्कृति मेरे प्रिय विषय रहे हैं। अपने कुछ निबंधों और अनुभवों के आधार पर यह आलेख प्रस्तुत है।

आलेख में आकड़ों से अधिक ध्यान अनुभव पर दिया गया है। हो सकता है कि अनुभवजनित ज्ञान सीमित हो लेकिन इतना सीमित भी नहीं हो सकता कि उसके आधार पर सामान्य निर्णय न निकाले जा सकें। हिन्दी क्षेत्र में शिक्षा की स्थिति बहुत दयनीय है। इसका कारण बहुत साधारण या सामान्य नहीं है। हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक श्रीलाल शुक्ल इसे 'जाहिल बनाने की साजिश' कहते हैं। उन्हीं के शब्दों में-रोटी-कपड़ा मकान के बाद जिस देश में पहली या कहें एकमात्र आवश्यकता साक्षरता और शिक्षा है, वहाँ ऐसी दृष्टिहीनता या तो मूर्खता के कारण है या फिर धूर्तता के कारण। हो सकता है कि जिन बहुराष्ट्रीय कंपनियों के आतंक और वर्चस्व को रोकने की आवाज़ें उठायी जा रही हैं, उन्हीं की गहरी पकड़ हमारी सारी आर्थिक और राष्ट्रीय नीतियों को तय कर रही हैं। क्योंकि जिन चीजों पर छूट दी गयी है वे सभी तो बाहर से आती हैं। कहीं ऐसा तो नहीं है कि अंतर्राष्ट्रीय इलेक्ट्रॉनिक कंपनियाँ जिन रियायतों और दरियादिली के साथ भीतर तक घुस कर 'कम्प्यूटर युग' ला रही हैं, उन्होंने हमारे कर्णधारों को ही सबसे पहले रोबो या मशीन-मानवों में बदल डाला है?

कुछ साल पहले यह ध्यान आया कि उस स्कूल को देखा जाए जहाँ मैं पढ़ा था। उत्तर प्रदेश के ज़िले फतेहपुर के शहर फतेहपुर में जी.टी. रोड से कुछ हट कर तहसील के बराबर एक काफी बड़ा और सुंदर सरकारी स्कूल हुआ करता था। इसकी इमारत बिल्कुल ब्रिटिश शैली की थी। साफ-सुथरी लाल ईंटों पर अच्छे क़िस्म के खपरों की छतें थी। इमारत के अंदर जाने के लिए चार-पाँच सीढ़ियाँ चढ़नी पड़ती थीं। चौड़ा बरामदा था, जिसके एक कोने

पर प्रिंसिपल का ऑफिस था। दूसरी तरफ अध्यापकों के बैठने का विशाल कमरा था। इमारत के बीच वाले हॉल में पुस्तकालय था। दोनों तरफ क्लास रूम थे। इमारत के सामने गोल फुलवारी थी जिसके बीचों बीच महात्मा गाँधी की मूर्ति स्थापित थी। इसके सामने प्रार्थना हुआ करती थी। जहाँ तक मुझे याद है, प्रार्थना कुछ ऐसी थी- ''हे प्रभो! आनन्ददाता''....। लिपे-पुते साफ-सुथरे स्कूल को हम सब पंसद करते थे। डेढ़-दो सौ बच्चे स्कूल में पढ़ते थे।

आज 60 साल के बाद इस स्कूल की जो दशा है, वह बयान से बाहर है। होना तो यह चाहिए था कि आजादी के 70 साल के बाद यह और भी विशाल, सुंदर व अच्छा हो जाता। अंग्रेज़ों ने भारत के ज़िलों में जिस तरह की स्कूल-शिक्षा स्थापित की थी, उसे हमारी अपनी सरकार के अधीन और अधिक फलना-फूलना चाहिए था लेकिन हुआ उसके विपरीत। आज वह स्कूल हकीकत में खण्डहर बन चुका है। उसके बराबर दो-तीन छोटे-छोटे कमरे बनाये गये हैं जहाँ स्कूल लगता है। इन छोटे-छोटे कमरों में 50-60 बच्चे और दो अध्यापिकाएं काम करती हैं जिनमें से प्रायः एक किसी-न-किसी आवश्यक ऑफिसियल काम से बाहर गयी होती है।

हिन्दी क्षेत्र के स्कूलों में शायद कभी भी समान स्तर की शिक्षा नहीं रही है। सरकारी स्कूलों के अतिरिक्त 'क्रिश्चियन मिशनरी स्कूल' रहे हैं। इसके अतिरिक्त अन्य पब्लिक स्कूल, जिन्हें पब्लिक स्कूल कहा जाता है वे हैं तो वास्तव में प्राइवेट ही। ये स्कूल हिन्दी क्षेत्रों में थे और हैं। इन स्कूलों की शिक्षा का स्तर अलग-अलग रहा है। इनमें समानता नहीं रही। कुछ बहुत उच्चकोटि के स्कूल माने जाते रहे और कुछ उससे कम स्तर के लेकिन आज स्थिति यह है कि सरकारी स्कूल लगभग नष्ट हो चुके हैं। उनकी शिक्षा का स्तर इतना गिर चुका है कि उसकी कल्पना नहीं की जा सकती। इसके साथ-साथ सरकार ने केन्द्रीय स्कूलों का जो ढाँचा बनाया है, वह सरकारी स्कूलों की कमी को रिप्लेस नहीं कर पाया। दूसरी ओर हिन्दी क्षेत्र में इंग्लिश मीडियम पब्लिक स्कूलों की भरमार हो गयी है। ये स्कूल प्राइवेट हैं और इनमें से अधिकतर व्यावसायिकता के शिकार हैं। उनका उद्देश्य स्तरीय शिक्षा देना नहीं बल्कि लाभ कमाना अधिक है। उनकी फीस भी इतनी अधिक होती है कि औसत दर्ज़े का आदमी अपने बच्चों को वहाँ नहीं पढ़ा सकता। इस तरह हिन्दी

क्षेत्र में अच्छी शिक्षा ग़रीब और औसत दर्ज़े के लोगों के हाथ से निकल गयी है। दूसरी ओर इस तरह की शिक्षा का स्तर इतना गिर गया है कि वह बड़ी संख्या में बेरोजगारों की भीड़ को बढ़ा रही है।

अच्छी शिक्षा से जनता को वंचित करने को ही श्रीलाल शुक्ल अनपढ़ बनाये रखने की साजिश मानते हैं। शिक्षा अधिकार प्राप्त करने का एक सशक्त माध्यम रही है। प्रसिद्ध कवि मिल्टन ने कहा था–''कोई भी अन्य अधिकार देने से पहले मुझे शिक्षा का अधिकार दो ताकि मैं अपने बारे में उचित निर्णय ले सकूँ।'' शिक्षा और जागरूकता सत्ता विमर्श में बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। सत्ताधारी कभी यह नहीं चाहता कि उसकी सत्ता को कोई चुनौती मिले। शिक्षित और जागरूक व्यक्ति सत्ता के लिए चुनौती होता है। विशेष रूप से सामंतवाद शिक्षा-विमर्श को बड़ी हद तक अपने लिए खतरनाक मानता है। बताया जाता है कि सामंती इलाकों में आजतक शिक्षा का प्रचार-प्रसार नहीं हो पाया है।

शिक्षा और जागरूकता वह बुनियादी सीढ़ी है, जिस पर चढ़कर जनता वे मूल्य अर्जित करती है जो संस्कृति का निर्माण करते हैं। संस्कृति के बिना किसी सभ्य समाज की कल्पना करना कठिन है। दरअसल राजनीति नहीं बल्कि संस्कृति समाज को संचालित करती है। संस्कृतिविहीन समाज अमानवीय समाज होते हैं। यह दु:ख की बात है कि हिन्दी क्षेत्र में यह 'दु:ख' जगह-जगह दिखायी पड़ता है। यह सोचकर आश्चर्य होता है कि यह वही क्षेत्र है जहाँ महान् राष्ट्रीय आंदोलन चला था और जिसके दौरान सच्चाई, ईमानदारी और त्याग के अद्‌भुत उदाहरण पेश किए गए थे।

आज़ादी के बाद हिन्दी समाज कहाँ से कहाँ पहुँच गया है! प्रसिद्ध हिंदी कवि रघुवीर सहाय के शब्दों में यह *लज्जित और पराजित* युग है। मानवीय संबंध और पारिवारिक संबंधों के टूटने की गाथाएँ लगातार छपती रहती हैं। सोचने की बात यह है कि हमारे समाज का इतना विघटन क्यों हो गया है? क्या केवल राजनीति ने हमें यहाँ पहुँचाया है? क्या केवल बाज़ारवाद ने हमसे सभी मूल्य छीन लिए हैं? क्या केवल प्रगति और प्रतिस्पर्द्धा की दौड़ का हम शिकार हो गए हैं? पतनशीलता के कारणों की खोज करने से पहले यह सोचना भी ज़रूरी है कि हमारे समाज में पहले क्या था जो हमें 'रोके' रहता था और अब क्या है जो हमें रोक नहीं सकता?

समाज को राजनीति नहीं बल्कि संस्कृति संचालित करती है। यही कारण है कि सुसंस्कृत देश प्राय: राजनीतिक उलट-फेर के दौरान भी सांस्कृतिक विरासत के कारण अपनी अस्मिता बचाए रखते हैं। इसका एक उदाहरण मध्य यूरोप का देश हंगरी है जहाँ पचास साल के कम्युनिस्ट शासन के बाद जब राजनीतिक उलट-फेर हुई तो इतने बड़े परिवर्तन के बाद भी समाज में कोई हिंसा नहीं हुई। यहाँ तक कि कम्युनिस्ट नेताओं की प्रतिमाएं ध्वस्त नहीं की गईं बल्कि उन्हें शहर के बाहर एक पार्क में स्थापित कर दिया गया। यह मूर्ति-पार्क 'कम्युनिस्ट हंगरी' का एक संग्रहालय बन गया है। *समाज का यह दृष्टिकोण राजनीति ने नहीं बल्कि संस्कृति ने बनाया है। यह तथ्य स्वीकार किए जाने के कारण ही वहाँ प्रमुख स्थानों और चौराहों के नाम कवियों, लेखकों, अभिनेताओं, कलाकारों के नाम पर रखे जाते हैं। सत्ता-परिवर्तन के कारण आज के महान नेता कल खलनायक बन सकते हैं लेकिन बड़ा कलाकार हमेशा बड़ा बना रहता है।*

संस्कृति सामाजिक आचार-संहिता का निर्माण करती है जिसके परिणामस्वरूप समाज श्रेष्ठ मूल्य अर्जित करता है। इन्हीं मूल्यों के कारण समाज चलता और बढ़ता है। यह सर्वविदित है कि किसी भी समाज को चलाने के लिए हर आदमी के पीछे सिपाही नहीं लगाया जा सकता और न किसी और तरह का नियंत्रण काम कर सकता है। उदाहरण के लिए अतिथि को 'देवता' समान समझने की धारणा उच्च सांस्कृतिक मूल्यों द्वारा निर्मित होती है। इसी तरह सत्य, न्याय, सौहार्द, प्रेम, त्याग, अहिंसा, समता, मानवता जैसे मूल्य सांस्कृतिक परिवेश में आकर अंतत: संस्कार बनाते हैं।

संस्कृति द्वारा संस्कार-निर्माण की प्रक्रिया के बारे में प्रसिद्ध समाजशास्त्री प्रो. प्रवीण पटेल ने समाजशास्त्र का रोचक और स्थापित तथ्य सामने रखा है। वे कहते हैं कि संस्कृति द्वारा संस्कार निर्मित होने की प्रक्रिया दो तरह से संचालित होती है। पहली प्रक्रिया को 'सेंस ऑव् गिल्ट' कहा जाता है। इसका मतलब यह कि मनुष्य के मन में यह धारणा बहुत अच्छी तरह स्थापित हो जाती है कि उसे क्या करना है और क्या नहीं करना। दूसरी और महत्त्वपूर्ण बात यह है कि मनुष्य अपने मन में बैठी धारणा के विपरीत काम करेगा तो उसे उसका 'गिल्ट' (अपराधबोध) परेशान करता

रहेगा। उसकी अंतरात्मा उसे कचोटती रहेगी कि उसने ग़लत काम किया है और वह कभी इस 'गिल्ट' से मुक्त नहीं हो पाएगा। इसलिए 'सेंस ऑव् गिल्ट' से संचालित संस्कार समाज के हर सदस्य को बाँधे रखते हैं। माना जाता है कि प्राय: यूरोपीय संस्कृति में संस्कारों का निर्माण 'सेंस ऑव् गिल्ट' से संचालित होता है।

संस्कार के निर्मित और संचालित होने की दूसरी प्रक्रिया 'सेंस ऑव् शेम' पर केंद्रित होती है। मतलब यह है कि समाज या व्यक्ति के संस्कार इस कारण बनते हैं कि उसे डर लगता है कि ग़लत काम करने पर वह पकड़ा जाएगा और परिवार, मोहल्ला, बिरादरी, समाज को जब इसका पता चलेगा तो उसे कितनी शर्म आएगी और अपमानित होना पड़ेगा। 'लोग क्या कहेंगे?' हमारे समाज की एक ऐसी अभिव्यक्ति है जो 'सेंस ऑव् शेम' के कारण सामने आती है। मतलब यह है कि काम बुरा है पर उससे अधिक बुरा यह है कि लोग क्या कहेंगे?

अब रोचक बात यह है कि 'सेंस ऑव् गिल्ट' द्वारा संचालित संस्कारों में परिवार, समाज और बिरादरी अपनी भूमिका निभाकर अलग हो जाते हैं। इसके पश्चात व्यक्ति के संस्कार बन जाते हैं और उसे इस बात की आवश्यकता नहीं रहती कि उसके ग़लत काम पर कोई क्या कहेगा। वह अपने संस्कारों के साथ आचरण करता है। जबकि 'सेंस ऑव् शेम' वाले संस्कार पूरी तरह शर्मिंदा करने वालों पर आश्रित हैं। अगर शर्मिंदा करने वाले ही न होंगे तो शर्म कैसे आयेगी? अब सवाल यह है कि ये शर्मिंदा करने वाले कौन हैं? परिवार वह पहली और गंभीर संस्था है जो शर्म दिलाने का काम करती रहती है पर आजकल परिवार कहाँ बचे हैं? बच्चे जवान होते ही हॉस्टलों या बड़े शहरों में चले जाते हैं और वहाँ जो भी करते हैं वह परिवार वालों से छिपा रहता है। इसलिए परिवार तो अब शर्म दिलाने की भूमिका नहीं निभा सकते। मोहल्लेदारी खत्म हो गई है। अब प्राय: किसी का मोहल्ला नहीं है, न मोहल्ले जैसी पुरानी संस्था है। न कोई बड़ा है जो मुँहबोले ताऊ की भूमिका निभा सके और न कोई छोटा भाई है। मोहल्लेदारी वाले रिश्ते ही नहीं हैं तो वे शर्म कौन दिलाएंगे? और जब शर्म दिलाने वाले ही नहीं बचे तो हमें शर्म क्यों आए? हमने सीखा तो यही है कि जब तक शर्म न दिलाई जाए तब तक

सब कुछ ठीक है। यदि हम ध्यान दें तो यह साफ हो जाता है कि भारतीय समाज पिछले पचास सालों में बहुत बदल गया है। विकास नहीं कहना चाहिए बल्कि फैलाव और वृद्धि की दर बहुत तेज़ी से बढ़ी है। शहरों पर जनसंख्या का इतना दबाव कभी नहीं था जो आज है। गाँव या क़स्बे बुरी तरह टूट और बदल रहे हैं और इसके परिणामस्वरूप पारंपरिक समाज और उसके संबंध टूट गए हैं। सामाजिक-पारिवारिक संबंधों के टूटने से संस्कृतिजन्य संस्कार भी समाप्त हो गए हैं। अर्थात् 'शेम' आधारित कारक शक्तियाँ समाप्त हो गई हैं। 'गिल्ट' आधारित कारक शक्तियों से हमारे संस्कार संचालित नहीं होते क्योंकि यह हमारे लिए नई और दूर की परिकल्पना है। मोटे शब्दों में कहा जाए तो न हम घर के हैं और न घाट के। ऐसी स्थिति में यह भी संभव नहीं है हम 'गिल्ट' से संचालित संस्कारों को तुरंत स्वीकार कर लें क्योंकि हमारी परिस्थितियाँ यूरोप जैसी नहीं हैं। यह भी संभव नहीं है कि हम 'शेम' से संचालित संस्कार बनाने वाली परिस्थितियाँ पैदा कर सकें। इस द्वंद्व से निकलने का रास्ता क्या होगा?

हम लोगों के बीच यह कहना एक फैशन-सा हो गया है कि साहित्य और कलाओं से समाज नहीं बदलता, क्रांतिकारी परिवर्तन नहीं होते।

आज हमारे जीवन में भूमंडलीकरण और मुक्त बाज़ार द्वारा पैदा की गई सांस्कृतिक चुनौतियाँ बहुत प्रमुख हैं जिन्हें हम सांस्कृतिक हस्तक्षेप से साध सकते हैं। ऐसा नहीं है कि यह करके हम कुछ नया करने का गौरव प्राप्त कर लेंगे। स्वतंत्रता का इतिहास इसका साक्षी है कि साम्राज्यवाद के ख़िलाफ हमारी लड़ाई का आधार सांस्कृतिक हस्तक्षेप ही था। विदेशी कपड़ों को जलाए जाने का आंदोलन हो या सुधारवादी आंदोलन, सभी भारतीय समाज और संस्कृति से जन्मे थे और वहीं स्थापित थे। हमारे देश में ही नहीं, दुनिया में साहित्य और संस्कृति ने सार्थक हस्तक्षेप किए हैं और समाज को दिशा दी है, परिवर्तन की ओर मोड़ा है। मैं यहाँ केवल फारसी महाकवि फिरदौसी आदि की ओर संकेत नहीं कर रहा हूँ जिनकी रचनात्मक प्रतिभा ने सम्राटों को झुका दिया था। मैं केवल तुलसीदास की बात नहीं कर रहा हूँ जो अकबर महान् के दरबार में नहीं गए क्योंकि वे जानते थे कि उनका दरबार अकबर महान् के दरबार से बड़ा और महत्त्वपूर्ण है। मैं

तो यहाँ उन लेखकों और कलाकारों की बात कर रहा हूँ जिनके सामूहिक प्रयास मानव मन, सोच और कर्म को दिशा देते हैं।

भूमंडलीकरण द्वारा आर्थिक आधिपत्य की शुरुआत दरअसल मानसिक आधिपत्य से होती है। भूमंडलीकरण और नव-साम्राज्यवाद पहले हमारी सोच बदलते हैं, उसके बाद हमें आर्थिक गुलाम बनाते हैं। सवाल यह है कि सोच या विचार की गुलामी से लड़ने की ताक़त हमें कहाँ से मिलती है? निश्चय ही साहित्य और संस्कृति इसके स्रोत हैं। एक बहुत पुरानी उक्ति है और अब शायद प्रयोग में भी नहीं आती कि *साहित्यकार मानव आत्मा का शिल्पी होता है* । पुरानी उक्तियों को अगर छोड़ भी दें तो इस बात का जवाब तो हमें देना ही पड़ेगा कि साहित्य और कलाएं मानव-समाज में क्या-क्या और कौन-कौन सी भूमिकाएँ निभाती हैं? इस प्रश्न की हम जितनी अधिक खोज करेंगे उतनी अधिक समझदारी का विकास होगा।

साम्राज्यवाद द्वारा मानसिक आधिपत्य को समझने के लिए वियतनाम युद्ध और इराक़ युद्ध के दौरान अमरीकी जनता की प्रतिक्रियाओं का अध्ययन बहुत सार्थक सिद्ध होगा। वियतनाम से जब अमेरीकी सेना वापस आ रही थी तो संयोग से उन दिनों मैं अमरीका में था। मुझे याद है: टी.वी. प्रेस कॉन्फ्रेंस में किसी पत्रकार ने तत्कालीन राष्ट्रपति से पूछा था, हज़ारों जानें गंवाने, लाखों लोगों की हत्याएं करने, खरबों डॉलर बर्बाद करने और एक पूरे देश को तबाह कर देने के बाद हमें क्या मिला? तत्कालीन अमरीकी राष्ट्रपति के पास इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं था। उस समय पूरी अमरीकी जनता यह मानती थी कि वियतनाम की लड़ाई में अमरीका की भूमिका निंदनीय है। मुझे लगता है अमरीकी सत्ताधारियों ने वियतनाम की लड़ाई से सबसे बड़ा पाठ यह पढ़ा कि जनता के समर्थन के बिना युद्ध नहीं किए जाने चाहिए। अमरीकी सत्ताधारियों ने अपनी इस समझ को इराक़ युद्ध पर परखा और सही पाया। इराक़ युद्ध के संबंध में अमरीकी सत्ताधारियों ने अपने देश में आश्चर्यजनक जनमत बना दिया था। खाड़ी युद्ध और साम्राज्यवादी नीतियों ने अमरीकी अर्थव्यवस्था को बहुत प्रभावित कर दिया था। पर जनता कहती थी: नहीं, बुश जो कर रहे हैं, ठीक है। कहने का मतलब यह कि बहुसंख्यक जनता का अंध समर्थन साम्राज्यवाद को मिला हुआ था। यह क्या है? क्या हम इसे सांस्कृतिक हस्तक्षेप की अनुपस्थिति

नहीं कह सकते? जनता को अंधा बना देने के प्रयोग संसार में होते हैं और हो रहे हैं।

सांस्कृतिक हस्तक्षेप का उद्देश्य लोगों को संवेदनशील बनाना, जागरूक बनाना, क्रिया-प्रतिक्रिया के लिए प्रेरित करना और आंदोलित करना होना चाहिए। यह ध्यान रहे कि यह एक लंबी और जटिल प्रक्रिया है और कम ही समय में इससे बहुत अधिक उम्मीद करना संभवत: ठीक न होगा। सांस्कृतिक हस्तक्षेप का सबसे महत्त्वपूर्ण काम लोगों को संवेदनशील बनाना ही है। हम आप जब जानते हैं कि समाजविरोधी सत्ताएं पहले मनुष्य को असंवेदनशील बनाती हैं तथा उसके बाद कुछ और करती हैं। हमारे समाज में भी असंवेदनशील बनाए जाने की प्रक्रिया बहुत तेज़ गति से चल रही है। धर्म, संप्रदाय और जाति की पहचान ने मनुष्यता की पहचान नष्ट कर दी है। आज सड़क पर मरता हुआ आदमी इसलिए बचाए जाने लायक नहीं समझा जाता कि वह आदमी है। उसे बचाए जाने के प्रयास उस समय किए जाते हैं, जब पता चलता है कि उसका और हमारा धर्म एक है या जाति एक है या संप्रदाय एक है। मनुष्य मात्र के प्रति संवेदनशील होने को मानवता का आधार मानें तो हमारा समाज संसार में सबसे क्रूर, हिंसात्मक और बर्बर समाज माना जाएगा।

सांस्कृतिक हस्तक्षेप विचारधारा का कोरा प्रचार नहीं होना चाहिए। पिछले पचास साल के अनुभव ने हमें अच्छी तरह बता और सिखा दिया है कि कलात्मकता के अभाव में बड़ा से बड़ा संदेश भी प्राणहीन हो जाता है।

सांस्कृतिक हस्तक्षेप लगातार जारी रहना चाहिए। चिंता की बात यह है कि प्राय: सांस्कृतिक हस्तक्षेप जीवन का हिस्सा नहीं बन पाते। यही कारण है कि उनका पर्याप्त प्रभाव समाज पर नहीं पड़ पाता। संस्कृति को जीवन का अत्यावश्यक अंग मानकर लगातार किए जाने वाले सांस्कृतिक हस्तक्षेप प्रभावकारी होंगे। हमारे प्रयासों में सबसे बड़ी कमी यह रही है कि हमने लगातार सांस्कृतिक हस्तक्षेप नहीं किये हैं।

लोकजीवन और लोकशैली से जुड़ी कलात्मक मान्यताओं को समझना सांस्कृतिक हस्तक्षेप के लिए अनिवार्य हैं। लोगों के बीच लोकशैलियों को ले जाना आवश्यक है। कलाकर्मियों को यह अच्छी तरह तय कर लेना

चाहिए कि दर्शक को आवश्यकताओं और अभिरुचियों के अंतर्गत हस्तक्षेप करना चाहिए।

आज आवश्यक यह है कि सांस्कृतिक हस्तक्षेप को अच्छी तरह परिभाषित किया जाए। काम से बड़ा कोई दूसरा शिक्षक नहीं है। काम ही हमें सिखाता है कि कब, कहाँ, कैसे, किसके लिए, क्या करना है?

सांस्कृतिकता पर विचार से पहले यह समझना आवश्यक है कि हिन्दी क्षेत्र के बड़े और छोटे शहरों की तस्वीर तेज़ी से बदल रही है। इस बदलती तस्वीर में नए-नए रंग दिखाई पड़ते हैं। ऐसे रंग जो शायद पहले कभी न देखे गए होंगे। छोटे शहरों और कस्बों की तस्वीर कुल मिलाकर उदास कर जाती है। एक अजीब तरह के असहाय होने का भाव निराश करता है।

पिछले बीस-पच्चीस साल में छोटे शहरों का चेहरा बढ़ती हुई आबादी के दबाव के कारण पहचाना नहीं जाता। आबादी का यह विस्फोट सकारात्मक नहीं है। इसका मतलब यह नहीं कि छोटे शहरों में उद्योग-धंधे बढ़ गए हैं तथा उनकी माँग को पूरा करने के लिए लोग बाहर से आ गए हैं। क़स्बों और गाँवों से लोग शहर में आ बसे हैं। यही वजह है कि शहर के सामाजिक जीवन में गुणात्मक परिवर्तन नहीं आए हैं बल्कि गाँव-बिरादरी की जड़ता और पुराने सामाजिक रिश्तों का जाल और ज़्यादा सशक्त हो गया है। जाति-बिरादरी की वह पकड़ जो पहले छोटे और मध्यम स्तर के शहरों में कुछ कम थी, अब बढ़ गई है।

छोटे शहरों पर राजनीति की पकड़ बहुत गहरी है। यह सिद्धांतों और विचारों की राजनीति नहीं है बल्कि सत्ता प्राप्त करने के लिए धार्मिक और जातीय आधारों पर बने समीकरणों की राजनीति है जिसने लोगों के बीच दीवारें खड़ी कर दी हैं। सिद्धांतविहीन राजनीति ने केवल जाति और संप्रदाय के आधार पर ही नहीं बल्कि हर नैतिक-अनैतिक तरीक़े से सत्ता पर अपनी पकड़ मज़बूत बनाने के लिए अपराध और प्रशासनिक जोड़-तोड़ को साधने का प्रयास किया है। संप्रदाय और जाति की राजनीति अपराध जगत् से संरक्षण प्राप्त करती है और चुनाव में किसी भी तिकड़म से इतने मत प्राप्त करना चाहती है कि सत्ता में बनी रहे।

आज़ादी से पहले यह हुआ करता था कि किसी भी छोटे शहर के मूल निवासी रिटायरमेंट के बाद अपने शहर या क़स्बे में आकर पुनः रहना शुरू करते थे। अच्छे पदों पर काम करने के बाद ये शिक्षित और अनुभवी लोग क़स्बों के जीवन और वहाँ के उत्थान में अपनी सकारात्मक भूमिका निभाते थे। शहर की सामाजिक और सांस्कृतिक गतिविधियों में ये सक्रिय होते थे और 'नागर समाज' को सशक्त बनाते थे। इस तरह एक ऐसी सिविल सोसाइटी बनती थी जो जाति, धर्म और संप्रदाय से अधिक नागरिकता के बुनियादी सिद्धांतों और सांस्कृतिक उत्थान पर बल देती थी। यही वह नागर समाज हुआ करता था जो गंदी राजनीति और अपराधी प्रवृत्तियों पर नज़र रखता था। एक सशक्त 'नागर समाज' देश-प्रेम और लोकतंत्र के सिद्धांतों का संरक्षक हो जाता था। अब भी कुछ लोगों को याद होगा कि छोटे शहरों से रिटायर्ड सरकारी या ग़ैर-सरकारी अधिकारियों की उपस्थिति न केवल शहर के प्रबुद्ध वर्ग को सहारा देती थी बल्कि उसका अदृश्य अंकुश जनविरोधी शक्तियों को भी बड़ी सीमा तक रोके रहता था।

आज स्थिति यह है कि रिटायर्ड लोग अपने शहरों या क़स्बे में जाने के बजाय बड़े शहरों में बस जाना ही पसंद करते हैं। कारण यह नहीं है कि वे अपने शहरों और क़स्बों से लगाव महसूस नहीं करते। इसका मुख्य कारण यह है कि अब छोटे शहरों और क़स्बों में 'नागर समाज' (सिविल सोसाइटी) के लिए 'स्पेस' कम हो गया है। आज वहाँ शक्ति राजनेताओं के हाथों में केंद्रित है जो प्रायः सिद्धांतविहीन राजनीति करने के कारण किसी भी तरह के समाजविरोधी तत्त्वों के साथ साँठ-गाँठ कर लेते हैं, जिसका नतीजा यह निकलता है कि नागर समाज कमज़ोर हो जाता है।

नागर समाज की कमज़ोरी का सबसे ज़्यादा असर पड़ता है, शहर या क़स्बे के सांस्कृतिक और सामाजिक जीवन पर। यह बात देखने और समझने योग्य है कि आज़ादी से पहले नागर समाज की पहल पर शहरों में पुस्तकालय स्थापित किए जाते थे, नगरपालिकाएं सक्रिय रहती थीं और जनहित में कार्य करती थीं। प्रशासन बड़ी सीमा तक नागर समाज का सम्मान करता था। अधिकारी और अन्य प्रभावशाली लोग नागर समाज की उपस्थिति में अपने आपको एक अनुशासन से बंधा हुआ महसूस करते थे। छोटे शहरों और क़स्बों का यह नागर समाज राजनीति और सामाजिक विकास के मुद्दों में

अपने सिद्धांतों के आधार पर भाग लेता था। चूँकि यह राष्ट्रीय आंदोलन का दौर था इसलिए जनता और देश को सर्वोपरि माना जाता था। छोटे शहरों में स्कूल और कॉलेज स्थापित करने की परंपरा थी जिस पर नागर समाज का नियंत्रण हुआ करता था। विकास और सेवा क्षेत्र में भी नागर समाज अपनी भूमिका निभाता था।

अब आज़ादी के साठ साल बाद सिद्धांतविहीन राजनीति ने छोटे शहरों के चेहरे को इतना बदल दिया है कि नागरिक सुविधाओं का अकाल पड़ गया है और व्यावसायिकता ने अपने पंजों को इतना फैला दिया है कि जनहित की जगह धनोपार्जन ने ले ली है। आज छोटे शहरों में शिक्षा की क्या स्थिति है, यह किसी से छिपी नहीं है। ऐसे समाचार बराबर मिलते रहते हैं जिनसे पता चलता है कि छोटे शहरों में सुविधा दिए जाने के नाम पर कितना शोषण और भ्रष्टाचार है। ऐसी स्थिति में किसी प्रकार के सांस्कृतिक विकास की कल्पना नहीं की जा सकती।

आज पेशेवर नेताओं ने नागर समाज को पूरी तरह समाज से बेदख़ल कर दिया है। ध्यान देने योग्य यह है कि समाज का राजनीतीकरण सिद्धांतविहीन है। ऐसे समाज में सांस्कृतिक गतिविधियाँ असंभव हैं जो धर्म और जाति के आधार पर विभाजित हो। इस पर तुर्रा यह कि धर्म और जाति-बिरादरी से सहिष्णुता, भाईचारे और मित्रता वाले सभी तत्त्व बाहर हो गए हैं। धर्म और जाति के गौरव तथा उसकी भूमिका को इतना ज़्यादा बढ़-चढ़कर बताया और समझाया जाता है कि धर्म और जाति पर विश्वास करने वालों में एक आक्रामक श्रेष्ठता का भाव आ गया है जो उन्हें दूसरे धर्मों के मानने वालों या दूसरी जातियों के लोगों से अलग कर देता है। यह स्थिति राजनीतिज्ञों के सर्वथा अनुकूल है जो यह चाहते हैं कि धर्म विशेष या जाति विशेष संगठित रहे।

सांस्कृतिक उन्नति के लिए आवश्यक है, एक ऐसा समाज जो एक तरह के मूल्यों पर विश्वास करता हो। ऐसा समाज जिसका 'कॉमन एजेंडा' हो, ऐसा समाज जो एक भाषा के प्रति प्रतिबद्ध हो लेकिन विभाजित समाज का कोई सांस्कृतिक एजेंडा नहीं हो सकता।

हमारे इस विभाजित और खंड-खंड समाज में संस्कृति का जो रूप विकसित होता दिखाई पड़ता है वह 'ग़ैर वैयक्तिक संस्कृति' का रूप है। यह संस्कृति के उन रूपों में दिखाई पड़ता है जहाँ व्यक्ति की कोई भागीदारी नहीं होती। व्यक्ति मात्र दर्शक होता है। इसके अंतर्गत इलेक्ट्रानिक माध्यमों को रखा जा सकता है। रेडियो, टी.वी. और सिनेमा इसके केंद्र में होते हैं। यह दूसरे प्रकार का सांस्कृतिक रूप है जो उसी तरह केवल धन से संचालित होता है। यह सांस्कृतिक हस्तक्षेप मुनाफे के सिद्धांतों पर आधारित ही नहीं है बल्कि पूरी तरह समाज को वही परोसना चाहता है जो समाज मांगता है। यही कारण है कि आज का 'मास मीडिया' जड़ मूल्यों और विश्वासों को तोड़ता नहीं, या तो उन्हें बढ़ाता है या आँखें बंद करके उनसे आगे बढ़ जाता है।

'मास मीडिया' का प्रभाव छोटे शहरों और क़स्बों में बढ़ रहा है जो धर्म और जाति के समीकरण पर विश्वास करने वाले लोगों की आस्था को चुनौती नहीं देता बल्कि उनके साथ एक तरह का समझौता करता है।

मैं अक्सर एक पोस्टर देखता हूँ, जिस पर लिखा होता है : 'धर्म बदल सकते हैं तो जाति क्यों नहीं', 'जाति तोड़ो भारत जोड़ो'। मैं इसे पढ़कर सोचता हूँ कि नारा बनाने वाले ने जितनी सरलता से कह दिया कि 'जाति तोड़ो', क्या उतनी सरलता से जाति टूट जाएगी? जाति को तोड़ने की बात कहने से पहले यह सोचने की ज़रूरत है कि जाति है क्यों? जाति की क्या उपयोगिता है? जाति से क्या लाभ है? हमारे पिछड़े ग्रामीण समाज में जाति से जुड़ाव एक प्रकार का संरक्षण देता है। ग्रामीण समाज पूरी तरह जातियों में बंटा हुआ है। गाँव में किसी को शादी-ब्याह करना है, सामाजिक-धार्मिक संस्कार करने हैं, सहायता चाहिए, सुरक्षा चाहिए तो वह अपनी जाति वालों के पास जाएगा क्योंकि जाति के लोगों के बिना धार्मिक और सामाजिक अनुष्ठान पूरे नहीं हो सकते। 'ऊँची' और 'नीची' जाति वाले इस संबंध में एक-दूसरे की सहायता नहीं करते, न ही कर सकते हैं। अब सवाल यह है कि हमारे आपके कहने पर कोई आदमी अपनी जाति छोड़ देगा तो उसकी लड़की का ब्याह कहाँ होगा? उधार-व्यवहार कहाँ से मिलेगा? सुरक्षा कौन करेगा? अब अगर हम जाति तोड़ने या छोड़ने की बात करते हैं तो उसका सीधा संबंध एक ऐसे समाज के निर्माण से जुड़ता है जहाँ मनुष्य को केवल मनुष्य होने के आधार पर

वह सब मिल सके जिसकी उसे आवश्यकता पड़ती रहती है। कहने का मतलब यह है कि जाति तोड़ने की बात सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिवर्तन से जुड़ी है। यदि हमारा समाज सभी नागरिकों के लिए कल्याणकारी समाज होगा तो बड़ी सीमा तक जाति व्यवस्था टूटेगी। एक कल्याणकारी समाज बनाने के लिए नागरिकों का पढ़ा-लिखा होना तथा उनका सही विचारधारा से लैस होना ज़रूरी है। लोग पूछ सकते हैं कि सही विचारधारा कौन सी है? मेरा जवाब होगा, इसका विकास समाज के शिक्षित और जागरूक हो जाने के साथ-साथ अपने आप होता रहेगा।

स्त्रीदास्य का सवाल भी इन सवालों से जुड़ा हुआ है लेकिन इस पर अलग से विचार करके कार्यक्रम निश्चित करने की आवश्यकता है। महिला-मुक्ति का पहला बिंदु शिक्षा ही है। दूसरा बिंदु आर्थिक आत्मनिर्भरता है। तीसरा बिंदु अपने भविष्य और जीवन के बारे में आत्मनिर्णय का अधिकार है। चौथा बिंदु सामाजिक-राजनीतिक जीवन में अपनी भूमिका सुनिश्चित करना तथा क्रियान्वित करना है। नारी-मुक्ति आंदोलन के रास्ते में भी जड़ता तथा पुरुष-प्रधान समाज की नैतिकता आड़े आती है जिनसे टकराए बिना आगे नहीं बढ़ा जा सकता।

संस्कृति के निर्माण में कलाओं और साहित्य की केंद्रीय भूमिका होती है। कलाएं मनुष्य को संवेदनशील बनाती हैं और संवेदनशील व्यक्ति को अच्छा मनुष्य बनाती है जो बेहतर मानवीय संबंधों और अच्छे सामाजिक रिश्तों पर विश्वास करता है लेकिन यह प्रक्रिया यांत्रिक नहीं होती। मतलब यह कि न तो संस्कृति के संवेदनशील बनाने की प्रक्रिया सब लोगों पर समान रूप से लागू होकर समान प्रभाव पैदा करती है और न सब पर एक ही प्रभाव छोड़ती है लेकिन संस्कृति की केंद्रीय भूमिका मनुष्य को संवेदनशील बनाना ही है।

धर्मनिरपेक्ष, समतावादी समाज बनाने के लिए लोगों के विचारों को बदलने का काम करना पड़ेगा। यह काम कठिन है। विशेष रूप से हमारे समाज में जहाँ अज्ञान और अशिक्षा है, वहाँ और कठिन है। पिछले 50-60 साल की राजनीति ने जो लोकतांत्रिक व्यवस्था हमें दी है उसने विभाजित करने का काम ज़्यादा किया है। आवश्यकता लोगों को शिक्षित करने और उनके विचार बदलने की है। यह काम 'ग्रासरूट लेवेल' पर किया जाना चाहिए। हमारे युवा समुदाय को, जो समाज को धर्मनिरपेक्ष और समतावादी बनाना

चाहता है जनता के बीच जाना होगा। गाँवों, छोटे क़स्बों और छोटे शहरों की ओर लौटना होगा। हालात ऐसे बना दिए गए हैं कि गाँवों, क़स्बों और छोटे शहरों में पढ़े-लिखे युवा वर्ग के लिए रोज़गार के साधन नहीं हैं। इसलिए गाँवों और क़स्बों में उन्हें संघर्ष का जीवन जीना होगा। युवा वर्ग ज्ञान, बुद्धि और समतावादी विचारधारा के आधार पर लोगों के जीवन में सार्थक ढंग से प्रवेश करे तो बात बनेगी। ध्यान दें कि लोगों का जीवन इतना कठिन है कि वे आपका भाषण नहीं सुनना चाहते। उन्हें आपकी मदद दरकार है। वे आपकी सहायता चाहते हैं। उनके नज़दीक आने का यही रास्ता है और विचार-विमर्श करने की पहली शर्त भी यही है।

एक समस्या यह है कि हिन्दी क्षेत्र के पिछड़ेपन का सवाल जितना महत्त्वपूर्ण है उतनी ही उपेक्षा का विषय रहा है। कुछ हिन्दी प्रदेश प्रेमी तो यह मानने से सरासर इन्कार कर देते हैं कि हिन्दी क्षेत्र भारत के अन्य क्षेत्रों या प्रदेशों की तुलना में पिछड़ा हुआ है। वे सौ तर्क जुटा कर यह सिद्ध करते हैं कि हिन्दी प्रदेश अन्य प्रदेशों से अधिक या कम-से-कम बराबर विकसित और सांस्कृतिक रूप से जागरूक प्रदेश हैं। इस संबंध में चाहे जितने तर्क दिए जायें लेकिन साक्ष्यों और प्रमाणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि हिन्दी क्षेत्र पिछड़ा हुआ है। मेरे विचार से यह हिन्दी क्षेत्र का अपमान नहीं है। वास्तविकता से आँखें चार किए बिना कुछ नहीं हो सकता।

हिन्दी क्षेत्र के पिछड़ेपन और सांस्कृतिक गतिरोध पर विचार करना इसलिए भी आवश्यक है कि बहुमुखी विकास के सारे रास्ते सांस्कृतिक विकास से होकर गुजरते हैं। यह असंभव है कि सांस्कृतिक विकास के अभाव में सामाजिक या राजनीतिक विकास हो सके। संसार के जिन देशों में कल्याणकारी समाज का निर्माण किया गया है वे सांस्कृतिक रूप से भी अग्रणी रहे हैं। हिन्दी प्रदेशों की तुलना में भारत के कुछ अन्य राज्य इस कारण अधिक उन्नत हैं कि वहाँ सांस्कृतिक जागरूकता है। अब प्रश्न यह उठता है कि हिन्दी क्षेत्र तथा भारत के अन्य क्षेत्रों/प्रदेशों की किस आधार पर तुलना करते हुए यह सिद्ध किया जा सकता है कि हिन्दी क्षेत्र सांस्कृतिक रूप से पिछड़ा है? मेरी जानकारी में इसका कोई वैज्ञानिक समाजशास्त्रीय अध्ययन नहीं हुआ है लेकिन सामाजिक विकास के कुछ मानदंडों पर यह समझने का प्रयास किया जा सकता है। तमिलनाडु में सबसे

अधिक पुस्तकालय हैं। इसकी तुलना में हिन्दी प्रदेशों की स्थिति चिंताजनक है। केरल की साक्षरता दर की तुलना में हिन्दी प्रदेशों की साक्षरता दर बहुत नीचे है। मराठी भाषा के वार्षिक सम्मेलन जैसे व्यापक और प्रभावशाली सम्मेलन हिन्दी भाषा में नहीं होते। मराठी और गुजराती जैसा विकसित रंगमंच हिन्दी के पास नहीं है। तमिलनाडु में आयोजित वार्षिक संगीत समारोह जैसे व्यापक संगीत सम्मेलन हिन्दी क्षेत्र में नहीं होते। कर्नाटक, केरल और तमिलनाडु सामाजिक विकास के कई मानदंडों पर हिन्दी क्षेत्र से आगे हैं।

अगला प्रश्न स्वत: उठता है कि ऐसा क्यों है? राजनीतिक रूप से विकसित और भारत को कई प्रधानमंत्री देने वाले क्षेत्र सांस्कृतिक और सामाजिक रूप से इतने कैसे पिछड़ गये? मेरे विचार से इस सवाल का कोई एक उत्तर नहीं हो सकता। हिन्दी क्षेत्र के इतिहास, सामाजिक संरचना, सांस्कृतिक परंपराओं की खोजबीन करने से ही शायद कुछ कारणों पर रोशनी पड़ सकेगी।

यह विचारणीय तथ्य है कि 1857 के स्वतंत्रता संग्राम ने इस क्षेत्र पर बहुत प्रभाव डाला था। यह विदित है कि साम्राज्यवाद अपने विरोधियों का इस तरह दमन करता है कि उसका प्रभाव सैकड़ों सालों तक देखा जा सकता है। 1857 का विद्रोह चूंकि मुख्य रूप से हिन्दी भाषी क्षेत्र का आंदोलन था इसलिए उसका भयानक दमन भी इसी क्षेत्र में हुआ था। असफलता, पराजय और दमन के बोझ से यह क्षेत्र दशकों तक इतना आहत रहा कि कुछ और सोचने-समझने की स्थिति नहीं बन पाई। धीरे-धीरे जब स्थिति सामान्य होने लगी तो पहली बात यही सोची गयी कि हम लोग अंग्रेज़ों से क्यों हार गये? तत्कालीन साहित्य कहीं-कहीं इशारे करता है। इस सवाल का जवाब दो तरह से दिये जाने की कोशिश की गयी है। कुछ ने यह मान लिया कि अंग्रेज हमसे श्रेष्ठ हैं, हम 'छोटे' हैं और वे महान हैं। कुछ आगे बढ़े तो यह कहा गया कि हम अंग्रेज़ों से इसलिए हार गये कि हमारे अंदर कुछ कमियाँ हैं। हमारे समाज में कुछ ग़लत है। 'क्या ग़लत है, क्या कमी है' की जड़ें साहित्य और संस्कृति तक ले जाती हैं। कहा गया कि नाच, गाना, ग़ज़ल, नौटंकी, भाँड़बाज़ी, कबूतरबाज़ी, पतंगबाज़ी, शतरंज वगैरा-वगैरा की वजह से हमारा समाज कमजोर हो गया था। इन्हें छोड़ने की ज़रूरत है। प्रेमचंद की कहानी *शतरंज के खिलाड़ी* को देखा जा सकता है।

दूसरी तरफ पाश्चात्य संस्कृति अपने पंख फैलाये बैठी थी। वह भारतीय समाज और संस्कृति को अपनी गिरफ्त में लेने के लिए पूरी तरह से तैयार थी। दूसरी तरफ हिन्दी समाज ने अपने कलारूपों को पिछड़ेपन का प्रतीक माना और उसे छोड़ दिया। 1857 के बाद यद्यपि शासन ईस्ट इंडिया कम्पनी के हाथ से निकल कर ब्रिटिश सरकार के पास आ चुका था लेकिन साम्राज्यवादी समझ पुरानी ही थी। साम्राज्यवादी यह जानते थे कि किन क्षेत्रों को विकसित करने में उन्हें फायदा है तथा कौन-से क्षेत्र विद्रोहियों के गढ़ रहे हैं जिनकी उपेक्षा करना ही उनके लिए अच्छा होगा। इस नीति के चलते हिन्दी क्षेत्र की उपेक्षा की गयी।

सन् 1857 के बाद निर्यात और आयात में जो बढ़ोत्तरी हुई, उसके कारण बंदरगाहों पर बसे शहरों में बहुत सम्पन्नता आई। अंग्रेज़ों ने भी तत्कालीन बंबई, कलकत्ता, मद्रास और दूसरे बंदरगाही शहरों के विकास पर ध्यान दिया। हिन्दी क्षेत्र की तुलना में वे शहर और इलाके अंग्रेज़ों के वफादार थे। इसलिए इन क्षेत्रों की जनता का न तो उत्पीड़न हुआ और उन्हें वैसा आत्ममंथन करना पड़ा, जैसा हिन्दी क्षेत्र के लोगों को करना पड़ा था।

हिन्दी क्षेत्र में सार्थक सामाजिक परिवर्तन की कामना करने वाले संस्कृतिकर्मियों का एजेण्डा क्या होना चाहिए? संस्कृति का एक बड़ा जनाधार होना आवश्यक है। आज स्थिति यह है कि साहित्यिक-सांस्कृतिक क्षेत्र में काम करने वालों और उसमें भाग लेने वालों का दायरा बहुत छोटा हो गया है। दिल्ली जैसे महानगर में साहित्यिक कार्यक्रमों में भाग लेने वाले श्रोताओं, दर्शकों आदि की संख्या सैकड़ों से अधिक नहीं है। संस्कृति के सिमटे दायरे को बड़ा बनाना आवश्यक है। यह समझना ज़रूरी है कि दायरा कैसे और किस तरह व्यापक बनाया जा सकता है।

हिन्दी में किताबों के प्रकाशन की संख्या बढ़ रही है। आज सैकड़ों किताबें रोज़ छपती और बिकती हैं। लेकिन क्या पाठकों की संख्या भी बढ़ रही है या क्या पाठक-संख्या उस गति से बढ़ रही है, जिस गति से किताबों का छपना बढ़ रहा है? क्या आज हिन्दी प्रदेश के मध्य, उच्च-मध्यवर्ग ने हिन्दी साहित्य को अपनाया है? उसे अपने घर और जीवन में जगह दी है? इन प्रश्नों के सरल उत्तर नहीं हैं पर उन्हें खोजे बिना काम नहीं चलेगा।

हिन्दी प्रदेशों में संस्कृतिकर्म प्रायः कई तरह से प्रायोजित होता है। संस्कृतिकर्मियों को या तो सरकार से सहायता मिलती या उन्हें अन्य संस्थाएँ पैसा देती हैं। ऐसा प्रायः नहीं होता कि संस्कृतिकर्म से ही इतना पैसा मिल जाये कि संस्कृतिकर्म और उसमें लगे लोगों की आर्थिक आवश्यकताएँ पूरी हो जाएँ। भारत की अन्य भाषाओं, जैसे- कन्नड़, मराठी और गुजराती आदि में संस्कृतिकर्म से आर्थिक आवश्यकताएँ पूरी हो जाती हैं।

हिन्दी क्षेत्र चूंकि बहुत बड़ा है, इस कारण समूचे हिन्दी क्षेत्र के संस्कृतिकर्मियों के बीच आदान-प्रदान कम होता है। इस बड़े क्षेत्र को देखते हुए ऐसे विशाल सांस्कृतिक संगठन (गैर सरकारी स्तर पर) नहीं हैं जो संबंध-संचालन कर सकें। इस प्रकार के संगठनों का बनना आवश्यक है। दरअसल हिन्दी प्रदेशों में व्यापक स्तर पर सांस्कृतिक आंदोलन चलना चाहिए। इसके अतिरिक्त और कोई रास्ता दिखाई नहीं पड़ता। यह आन्दोलन जनांदोलन में बदल जाना चाहिए जिसकी परिधि में साहित्य, ललित कलाएँ तथा पुस्तक-संस्कृति आदि शामिल हों। आशा है, ऐसा किया जाएगा और उससे पहले हिन्दी क्षेत्र के सांस्कृतिक पिछड़ेपन पर पर्याप्त चर्चा भी होगी।

सीसीआरटी - एक परिचय

सांस्कृतिक स्रोत एवं प्रशिक्षण केन्द्र (सीसीआरटी) की स्थापना मई, 1979 में नई दिल्ली में औपचारिक व भारत की जीवंत सांस्कृतिक परंपराओं वाली अलग तरह की शिक्षा-व्यवस्थाओं के बीच अंतर को भरने के लिए सेतु के रूप में की गयी थी।

इसका प्रमुख लक्ष्य एवं उद्देश्य औपचारिक और अनौपचारिक शिक्षा के विभिन्न स्तरों पर शिक्षा व्यवस्था में सांस्कृतिक स्रोत को ग्रहण करना एवं उसका क्रियान्वयन है। उदाहरण के रूप में, पारंपरिक कलाओं, जैसे-कुम्हारी कला, कालीन-बुनाई, प्रिंट मेकिंग, पुतलीकला की विभिन्न शैलियों और संगीत तथा नृत्य के विविध रूपों का गणित, रसायन शास्त्र, भौतिक शास्त्र, मौखिक इतिहास व समाजविज्ञान जैसे विषयों में शैक्षिक उपकरण के रूप में उपयोग किया जाना। इसके लिए सीसीआरटी संपूर्ण भारत से शिक्षकों, प्रशिक्षकों और प्रशासकों के लिए प्रशिक्षण कार्यक्रम विविध आयामों में आयोजित करता है। संस्कृति के साथ शिक्षा को जोड़ने के क्रम में महत्वपूर्ण कार्य करने वाले शिक्षकों के लिए सीसीआरटी द्वारा पुरस्कार भी प्रारंभ किया गया है।

सीसीआरटी देश भर के शिक्षकों, शिक्षाविदों तथा प्रशासकों के लिए विभिन्न प्रशिक्षण-कार्यक्रमों का आयोजन करता है। इसके द्वारा सीसीआरटी के अन्य प्रमुख लक्ष्यों सहित भारत की कलाओं और संस्कृतियों पर स्रोतों का एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति द्वारा संग्रहण करने में सहायता मिलती है। सीसीआरटी के प्रलेखन कार्यक्रम में फोटोग्राफ एवं स्लाइड, श्रव्य एवं दृश्य रिकार्डिंग तथा लिखित अभिलेखों और रिपोर्टों के रूप में भारत की कलाओं और संस्कृतियों पर आंकड़ों का संग्रहण एवं संरक्षण शामिल है। यह सामग्री प्रकाशनों एवं अभिलेखों के रूप में विद्वानों एवं शोधकर्ताओं के लिए शिक्षण-सामग्री के विकास हेतु आधार प्रदान करती है।

सीसीआरटी 10 से 14 साल के स्कूल जाने वाले बच्चों या पारंपरिक कला में अभ्यास करने वाले परिवारों के 650 बच्चों को, जिनकी पारंपरिक कलाओं में रुचि है, सांस्कृतिक प्रतिभा खोज छात्रवृत्ति योजना के तहत छात्रवृत्ति प्रदान करता है। संस्कृति के क्षेत्र में उत्कृष्ट व्यक्तियों को फेलोशिप देने की योजना शुरू की गई है जिनमें 200 की संख्या में चयनित कनिष्ठ अध्येताओं तथा 200 की संख्या में वरिष्ठ अध्येताओं को क्रमशः रुपये 10,000 एवं 20,000 प्रतिमास दो वर्ष के लिए दिये जाते हैं। यह योजना मूलतः संस्कृति मंत्रालय की है और इसमें मुख्य बल संस्कृति के विभिन्न पहलुओं में गहन-अध्ययन अनुसंधान पर दिया जाता है। 18 से 25 वर्ष के युवाओं को भारतीय शास्त्रीय संगीत, शास्त्रीय नृत्य, सुगम संगीत, थियेटर, दृश्य कला एवं लोक तथा पारंपरिक कलाओं के अध्ययन के लिए

छात्रवृत्तियां दी जाती है। प्रत्येक चयनित युवा अध्येता को दो वर्षो के लिए 5000 रुपये प्रतिमाह दिया जाता है, जिसमें उसकी यात्रा, पुस्तकों, कला सामग्रियों तथा अन्य उपकरणों एवं ट्यूशन एवं प्रशिक्षण व्यय शामिल हैं।

केन्द्रीकृत प्रायोजित नई योजना के तहत सांस्कृतिक तथा विरासतप्रबंधन के राष्ट्रीय संस्थान को 12वीं पंचवर्षीय अवधि के लिए संस्कृति मंत्रालय के दस्तावेजों को अभिलेखित करने के लिए मान्यता प्रदान की गई थी। संस्कृति मंत्रालय ने सांस्कृतिक स्रोत एवं प्रशिक्षण केन्द्र को नोडल एजेंसी के रूप में शामिल करते हुए यह परियोजना/कार्य अपने हाथ में लिया है। इसके द्वारा कला प्रबंधन के मूलभूत सिद्धांतों पर लघु पाठ्यक्रमों का आयोजन किया जाता है, जिसके द्वारा रणनीतिक योजना, बाजार प्रबंधन और धन प्राप्ति पर विशेष बल दिया जाता है। इसमें भाग लेने वाले देश के विविध सांस्कृतिक संगठनों के महत्त्वपूर्ण पदों पर आसीन अधिकारी होते हैं। इस पाठ्यक्रम में कला/सांस्कृतिक संगठन में प्रबंधकीय एवं नेतृत्व की भूमिकाओं के बारे में प्रतिभागियों को विशेष कौशल से संपन्न किया जाता है।

संस्कृति मंत्रालय की पहल पर वाराणसी में 'संस्कृति' नामक परियोजना के अंतर्गत सीसीआरटी वाराणसी की दस शैक्षिक संस्थाओं में देश के निम्न महापुरुषों/चिंतकों की विरासत पर शैक्षिक-सांस्कृतिक कार्यक्रम चला रहा है - रानी लक्ष्मीबाई, डॉ. संपूर्णानंद, महामना पं. मदनमोहन मालवीय, स्वामी करपात्री जी, संत चिंतामणि मुखर्जी, श्री काशी नरेश, श्री लालबहादुर शास्त्री, डॉ. विद्यानिवास मिश्र, संत रविदास, स्वामी विवेकानंद।

प्रशिक्षित शिक्षकों की संख्या को बढ़ाने के क्रम में सेन्ट्रल इंस्टीट्यूट ऑव् एजुकेशनल टेक्नालॉजी (सीआईईटी) की सहायता से विद्वानों/कलाकारों के द्वारा पैनल परिचर्चा/व्याख्यान/प्रदर्शन की रिकॉडिंग के द्वारा दूरशिक्षा कार्यक्रम शुरू किया गया है। इसके माध्यम से शिक्षकों और छात्रों की संख्या कम खर्च और कम समय के आधार पर बढ़ती रहेगी।

कमलादेवी चट्टोपाध्याय की अध्यक्षता एवम् डॉ. कपिला वात्स्यायन की उपाध्यक्षता में प्रारंभ हुए सीसीआरटी ने पिछले 37 वर्षों में सांस्कृतिक शिक्षा की क्षमता का विस्तार किया है, जिसमें दो लाख के आस-पास प्रशिक्षकों, युवाओं को प्रशिक्षण, प्रकाशन एवं विविध माध्यमों से सांस्कृतिक रूप से ज्ञान प्रदान किया गया है। अपने दिल्ली मुख्यालय तथा तीन क्षेत्रीय केन्द्रों, जो हैदराबाद, उदयपुर और गुवाहाटी में स्थित हैं, द्वारा सांस्कृतिक गतिविधियों, कार्यक्रमों, प्रदर्शनियों व्याख्यानों परिसंवादों के माध्यम से स्थानीय समुदायों के जीवन एवं कलाओं को विस्तार दे रहा है।

इसके लक्ष्य एवं उद्देश्यों के बारे में और अधिक जानकारी हेतु इसकी वेबसाइट **www.ccrtindia.gov.in** देखी जा सकती है।

कमलादेवी चट्टोपाध्याय स्मृति व्याख्यान

पहला व्याख्यान/29 मई, 2009

डॉ. कपिला वात्स्यायन/Education through the Arts:
Values and Skills

दूसरा व्याख्यान/12 फरवरी, 2011

प्रोफ़ेसर कृष्ण कुमार/हस्तकलाएँ और शिक्षा

तीसरा व्याख्यान/10 मार्च, 2012

प्रोफ़ेसर बी.एन. गोस्वामी/The Indian craftsman in history

चौथा व्याख्यान/13 मार्च, 2014

प्रोफ़ेसर भरत गुप्त/Reviving Indian heritage in education

पाँचवाँ व्याख्यान/29 अक्टूबर, 2014

प्रोफ़ेसर अशोक चटर्जी/Can our future be handmade?

छठवाँ व्याख्यान/29 अक्टूबर, 2015

श्रीमती मृणाल पाण्डे/संगीत-शिक्षा और महिलाएँ:
हम कहाँ से कहाँ आ गईं?